श्री अकलंक जैन ग्रन्थमाला

का

तृतीय पुष्प

कर्मसिद्धान्त-परिचय

लेखक, प्रकाशक—

अजितकुमार जैन शास्त्री,

अकलंक प्रेस, मुलतान नगर

वीर सं० २४६५

प्रथमावृत्ति	मूल्य –)
२०००	एक आना

आद्य-वक्तव्य

जैन दर्शनके जिस तरह स्याद्वाद, अहिंसा आदि सिद्धान्त अन्य दर्शनों से मेल नहीं खाते उसी प्रकार उसका कर्मसिद्धान्त भी अन्य धर्मों से विलक्षण है। अधिकतर अन्य धर्मों की यह मान्यता है कि जगत की रचना, जगत का संचालन तथा जगत का नाश परमात्मा करता है उसी की प्रेरणा पर संसारी जीव सुख दुख आदि फल भोगा करते हैं। यानी-ईश्वर की प्रेरणा के बिना संसारमें कोई पत्ता भी नहीं हिल सकता। परन्तु जैनधर्म इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द करता है कि जगत रचना या जगत के नाश में ईश्वर का कोई हाथ नहीं और संसारी जीवों को सुख, दुख आदि फल भी ईश्वर के द्वारा प्राप्त नहीं होता। संसारी जीव स्वयं अपनी अच्छी बुरी क्रियाओं से शुभ अशुभ कर्म कमाते हैं और स्वयं कर्मों के आधीन होकर सुख दुख आदि फल भोगते हैं।

यही कर्मसिद्धान्त संक्षेप से इस ट्रैक्ट में बतलाया गया है। कर्म क्या बला है इसका सारभूत परिचय पाठक इस ट्रैक्ट से प्राप्त करेंगे ऐसी आशा है।

अजितकुमार

श्रीजिनाय नमः

कर्म सिद्धान्त परिचय

संसार के भीतर जीव अनेक रूप में दीख पड़ते हैं किसी को मनुष्य का शरीर मिला हुआ है तो कोई पशु की देह में कैद है, कोई पक्षी की सूरत में है, तो कोई कीड़े मकोड़े के जीवन में नजर आ रहा है। इतना ही नहीं किन्तु उन एक एक तरह के जीवों में और बहुत तरह के भेदभाव साफ दीख रहे हैं, अन्य जीवों को छोड़ कर हम अपनी मनुष्य जाति की ओर ही दृष्टि डालें तो नजर आता है कि कोई मनुष्य बलवान है, कोई कमजोर है, कोई मूर्ख है कोई विद्वान है, कोई धनवान है कोई गरीब है, कोई रोगी है, कोई तन्दरुस्त है, कोई किन्हीं बातों में सुखी है और कोई कुछ बातों में दुखी है।

यह सब भेदभाव क्यों है? सब जीव एक सरीखे शरीर में ही क्यों नहीं पाये जाते? तथा उनमें से कोई सुखी और

कोई दुखी क्यों है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उस समय सामने आया करते हैं— जबकि कोई भी व्यक्ति संसारी जीवों के विषय में कुछ विचार करने के लिये तयार होता है ।

इन प्रश्नों के उत्तर में अधिकांश मनुष्य यह कह दिया करते हैं कि संसारी जीवों में परस्पर अनेक तरह के अन्तर और भेदभाव उनके भाग्य के अनुसार होते हैं, जिसका जैसा भाग्य होता है उसको वैसा ही अच्छा बुरा शरीर तथा सुख दुख आदि के सामान मिलते हैं। जिसने पहले जन्म में अच्छे शुभ काम करके अच्छा भाग्य कमाया है वह इस जन्म में भाग्यशाली सुखी होता है अच्छा शरीर पाकर आराम से दिन बिताता है और जिसने पहले भव में बुरे-पाप कार्य करके अभाग्य (बुरा भाग्य) कमाया उसको इस भव में खराब योनि, खराब शरीर तथा दुःख के सामान मिले हैं। इन ही बातों से मिलती जुलती बातें साधारण लोग भी कह दिया करते हैं कि 'जिसके भाग्य में जैसा कुछ लिखा है उसको वैसा ही नतीजा मिलता है।'

अब देखना यह है कि यह भाग्य, तकदीर, किस्मत, कर्म आदि अनेक शब्दों से कही जाने वाली विकट बला चीज क्या है जिसकी वजह से यह जीव विचित्र दशाओं में दीख पड़ता है। इस कर्म का विचार करने के लिये पहले इस जगत में मौजूद पदार्थों को संक्षेप से समझ लेना आवश्यक है। अतः पहले जगतमें भरे हुए पदार्थों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

जगत के पदार्थ

इस जगत में दो तरह के पदार्थ हैं—**जड़** और **चेतन** जिन पदार्थों में जानने देखने, सुख दुख अनुभव करने की शक्ति नहीं है वे पदार्थ **जड़** या **अजीव** । और जिन में जीवन शक्ति मौजूद है, जो सुख दुख का अनुभव करते हैं, जानते देखते हैं वे **चेतन** पदार्थ हैं उन्हीं चेतन पदार्थों को **जीव** या **आत्मा** भी कहते हैं।

अजीव पदार्थ दो तरह के होते हैं—मूर्तिक तथा अमूर्तिक। जो पदार्थ छूने, देखने, सूंघने, चखने, सुनने में नहीं आ सकते वे **अमूर्तिक** पदार्थ हैं जैसे आकाश। जो पदार्थ देखने, छूने. सूंघने, खाने, सुनने में आते हैं वे पदार्थ **मूर्तिक** हैं। मूर्तिक पदार्थों को जैन सिद्धान्त में **पुद्गल** तथा अंग्रेजी में **मैटर** (Metter) शब्द से भी कहते हैं।

पुद्गल (मैटर) दो तरह के होते हैं—**परमाणु** और स्कन्ध। सबसे छोटा टुकड़ा (जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके) **परमाणु** (जर्रा) है। वह इतना छोटा होता है कि आंखों से यहां तक कि खुर्दबीन से भी नहीं दिखाई पड़ता। अनेक परमाणु मिलकर जो बड़े–मोटे रूप में हो जाते हैं वे **स्कन्ध** कहलाते हैं। स्कन्धों में भी बहुत से सूक्ष्म स्कन्ध नजर नहीं

आते, बहुत से खुर्दबीन से दीख जाते हैं और बहुत से स्थूल स्कन्ध हमको साफ दिखाई देते हैं। जगत में जितना भी कुछ दिखाई देता है या दिखाई दे सकता है वह पुद्गल स्कन्ध है। कपड़ा, कागज, मेज, कुर्सी, जमीन, पानी, आग, हवा, लकड़ी पत्थर आदि यहां तक कि हमारा शरीर भी **पुद्गल** है। जीवित शरीर, हरे पेड़, पानी आदि के भीतर जीव होता है किन्तु वह शरीर, लकड़ी, पानी आदि जड़ पुद्गल से ही बने हुए हैं।

जीव जो जानता समझता, विचारता है सुख का अनुभव करता है वे ज्ञान, सुख आदि गुण जीव के अपने स्वाभाविक (कुदरती) गुण हैं। इस बात को संक्षेप से इस तरह मालूम किया जा सकता है—

सुख

जीव जो किसी समय सुख का अनुभव करता है, वह सुख क्या है? कहां से आता है? और रहता कहां है? इन बातों का विचार और निर्णय (फैसला) हमको जीव के विषय में बहुत कुछ बतला देता है। देखिये—बहुत से मनुष्यों को पान खाने से आनंद मिलता है। अब विचार कीजिये कि क्या आनन्द पान के भीतर रक्खा हुआ है जो कि उसको मुख में रखते ही प्रगट हो जाता है। आपको उत्तर मिलेगा 'नहीं' क्योंकि यदि पान के भीतर सुख जमा होता तो उसे खाने पर सब किसी को सुख आनन्द मिलता, किन्तु देखा जाता है कि

करोड़ों मनुष्य पान से घृणा (नफरत) करते हैं वे उसे कड़वा समझ कर कभी नहीं खाते, किसी यूरोपियन को आप यदि पान देंगे तो वह मुखमें रखते ही थूक देगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख पान में नहीं है।

तो क्या पान सुख उत्पन्न करने का अनिवार्य (निहायत जरूरी) कारण है ? नहीं; ऐसा भी नहीं है। क्योंकि पान खाने के शौकीन मनुष्य की तबियत ठीक नहीं हो तो वही पान उसको खराब मालूम होता है। दूध तो प्रायः सभी देशी विदेशी आदमियों को अच्छा लगता है। किन्तु वह कब; जबकि मुख और तबियत ठीक हो। जिस मनुष्य को पित्त का बुखार आया हो उसको वही दूध कड़वा मालूम होता है। किसी को मीठी चीजों के खाने से सुख मिलता है तो कोई उनके लेने से नफरत करता है— उसको नमकीन, खट्टी चीजों के खाने से सुख मालूम होता है। जिस नीम के कड़वे पत्ते को खाने में सब कोई नाक सिकोड़ते हैं उसी नीम के पत्ते को ऊंट, बकरी तथा उस पत्ते का कीड़ा बड़े स्वाद से खाकर सुख मालूम करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख उन पान, मिठाई खटाई आदि चीजों में नहीं है।

बम्बई में व्यापार करते हुए ला० मनोहरलाल जी को देहली से तार आता है कि आपके घर पुत्र पैदा हुआ है। तार पढ़ कर मनोहरलाल जी को बहुत भारी हर्ष होता है। अब विचारिये कि वह आनन्द क्या तार लाने वाला चपरासी ले

आया ? नहीं; क्योंकि वही चपरासी उसी समय श्रीधर च.। भी तार लेकर आया था जिसमें उसके पुत्र के मरण का समाचार था जिसको पढ़ कर उसको बहुत भारी शोक हुआ था। तो क्या तार के लिखे हुए अक्षरों में सुख रक्खा हुआ था ? यह भी नहीं, क्योंकि उसी तार को दूसरे मनुष्य पढ़ते हैं, तो उनको ज़रा भी सुख नहीं होता। इससे मानना पड़ेगा कि ला० मनोहरलाल जी का सुख उस तार के भीतर नहीं भरा हुआ था क्योंकि आनन्द यदि उसमें रक्खा हुआ होता तो और मनुष्य भी उसको पा जाते। इसके सिवाय उसी तार को दूसरा पुरुष आकर यों पढ़े कि "आपके घर पुत्री पैदा हुई है" तो मनोहरलाल जी की सारी खुशी उसी समय उड़ जाती है इस से यह सिद्ध हुआ कि आनन्द, सुख, खुशी मनोहरलाल जी के भीतर ही है, तार में नहीं।

किसी दफ्तर में एक कर्ल्क का वेतन (तनख्वाह) सवासौ रुपये से बढ़कर डेढ़ सौ रुपये मासिक हो जाता है, वह बहुत सुखी होता है। तब क्या १५०) डेढ सौ रुपये मासिक तनख्वाह में सुख रक्खा हुआ है ? नहीं; क्योंकि दूसरे प्रधान कर्ल्क की तनख्वाह पौने दो सौ रुपये से घटाकर १५०) डेढ़ सौ रुपये मासिक करदी जाती है तो वह प्रधान कर्ल्क उसी डेढ़ सौ रुपये मासिक से दुखी होता है। इस कारण मानना पड़ेगा कि सुख डेढ़ सौ रुपये मासिक तनख्वाह में नहीं रक्खा हुआ है, वह तो उस मनुष्य के ही भीतर है।

इसी प्रकार सारे विषय भोगों के लिये भी यही बात है। सुख उन बाहरी चीजों में नहीं किन्तु उन प्राणधारी जीवों के भीतर ही है। वे बाहरी पदार्थ तो केवल उसको प्रगट कर देते हैं। इस कारण मानना पड़ेगा कि सुख इस आत्मा (जीव) का निजी स्वाभाविक (कुदरती) गुण है।

ज्ञान

ठीक इसी तरह ज्ञान भी आत्मा का एक प्रधान स्वाभाविक गुण है। प्रेमचन्द्र ने अपने अध्यापक (मास्टर) से इतिहास (तवारीख) पढ़ कर दो तीन हजार वर्ष पहले की अनेक बातों का ज्ञान हासिल कर लिया। तो क्या ज्ञान उस मास्टर ने प्रेमचन्द्र के भीतर रख दिया ? नहीं; क्योंकि वही मास्टर उस इतिहास ज्ञान को दूसरे छोटे बच्चे को नहीं सिखा सका। यदि इतिहास ज्ञान को उस पुस्तक से पैदा हुआ मानें तो उस पुस्तक को देख कर वह जो कि हिन्दी भाषा का जानकार नहीं कुछ भी नहीं समझ पाता। इससे यह निचोड़ निकला कि वह ज्ञान प्रेमचन्द्र को न तो मास्टर ने दिया और न पुस्तक ने ही उसको दिया।

एक जौहरी किसी पत्थर को देख कर जान लेता है कि इसका मूल्य एक हजार रुपये से कम नहीं। तो क्या वह ज्ञान उन आंखों के भीतर भरा हुआ था ? नहीं; क्योंकि दूसरा मनुष्य अपनी आंखों से उस पत्थर को देखकर उसकी कीमत एक सौ रुपये १००) भी नहीं समझता। यदि आंखें ही उस

पत्थर के एक हजार रुपया मूल्य का ज्ञान पैदा कराने वाली होतीं तो उस दूसरे मनुष्य को भी ज्ञान हो जाता। इस कारण मानना होगा कि ज्ञान आंखों में नहीं भरा है।

यदि नाक, कान आदि इन्द्रियों को ज्ञान का खजाना माना जावे तो मुर्दा मनुष्य की इन्द्रियों से भी ज्ञान टपकना था, किन्तु ऐसा होता नहीं। इस लिये सिद्ध होता है कि ये इन्द्रियां तो फोटोग्राफ की आंख (लेन्स) की तरह ही हैं। इन इन्द्रियों पर बाहरी पदार्थों की सिर्फ छाया पड़ती है जैसे फोटोग्राफ के शीशे पर पड़ती है। **ज्ञान** उस आत्मा की ही निजी चीज है जो कि इस शरीर में बैठा हुआ है। ये इन्द्रियां माष्टर पुस्तक आदि चीजें उस आत्मा के **ज्ञान** को केवल उत्तेजना देने वाले हैं। यानी **ज्ञान आत्माका ही निजी स्वाभाविक गुण है।**

इस प्रकार यहां पर यह बात अच्छी तरह सिद्ध होगई कि ज्ञान और सुख इस जीव के (आत्मा के) ही निजी गुण हैं और इस कारण वे दोनों केवल आत्मा के भीतर ही पाये जाते हैं। बाहरी पदार्थों के निमित्त से सिर्फ वे थोड़े बहुत कभी कहीं पर प्रगट (जाहिर) हो जाते हैं। उन दोनों गुणों के सिवाय शान्ति, वीर्य (ताकत) आदि और अनेक गुण ऐसे हैं जो कि इस आत्मा में कुदरती रूप से पाये जाते हैं। उनका विवेचन भी बहुत लम्बा चौड़ा है। इसलिये उसको यहीं पर छोड़ कर अब अपने विषय पर आते हैं।

जब कि ज्ञान और सुख इस आत्मा के निजी स्वाभाविक गुण हैं तब प्राकृतिक (कुदरती) नियमानुसार यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि इन दोनों गुणों का पूरा विकास (फैलाव) भी आत्मा में हो सकता है, क्योंकि जो जिस वस्तु का खास कुदरती गुण होता है वह, उसमें कभी पूरे तौर से प्रगट भी हो सकता है, जैसे कि गर्मी अग्नि का कुदरती गुण है तो उसमें उस उष्णगुण (गर्मी) का विकास बाहरी बाधक कारणों के न होने पर हो ही जाता है, पानी में शीत-गुण (ठंडक) कुदरती है, तो वह पूरे रूप से कभी उसमें जाहिर हो जाता है। इसी प्रकार मानना होगा कि सुख और ज्ञान भी आत्मा में कभी किसी दशा में पूरी तरह से विकसित हो सकते हैं। यानी–यह आत्मा कभी पूरा सुखी और पूरा ज्ञानी हो सकता है।

इस संसारी हालत में जीव को पूरा सुख और पूरा ज्ञान नहीं मिल पाता, क्योंकि संसारी जीव चाहे कितना ही ज्ञानवान (इल्मदार) हो जावे, उसके ज्ञान में कमी बनी ही रहती है। ऐसा कभी नहीं हो पाता कि वह सारी बातों का पूरा जानकार हो गया हो। इसी प्रकार इस संसार में रहता हुआ ऐसा भी कोई जीव नहीं जो कि पूरा सुखी हो जावे यानी–जिसको किसी भी तरह का कोई भी जरा सा भी दुख न हो। एक मनुष्य महाविद्यालय (यूनिवर्सिटी) की सब से ऊंची परीक्षा पास करके कुछ सुखी होता है तो चट उसको

अपनी आजीविका (रोजगार) की चिन्ता लग जाती है। आजीविका मिल गई तो वृद्धि (तरक्की) की चिन्ता सवार हो जाती है। पुत्र उत्पन्न हुआ कुछ आनन्द मिला तो उसके पीछे उसके पालने की तकलीफ सामने आ जाती है। मतलब यह है कि किसी भी दशा में वह पूर्ण सुखी नहीं हो पाता।

इसका कारण क्या है ? सुख और ज्ञान आत्मा के निजी स्वाभाविक गुण होते हुए भी क्यों नहीं संसारी आत्मा में वे पूरी तरह से प्रगट हो पाते हैं ? जब कि इस प्रश्न पर विचार करते हैं तब पता चलता है कि जीव के ऊपर कोई ऐसा परदा पड़ा हुआ है जो कि उसके इन गुणों को ढके हुए है, पूरा प्रगट नहीं होने देता। जिस प्रकार आग के ऊपर कुछ राख डाल देवें तो उस आग की गर्मी पूरी तरह प्रगट नहीं होने पाती अथवा सूर्य के नीचे जब बहुत से बादल आजाते हैं तब उसका प्रकाश (उजाला) और गर्मी पूरी तौर से प्रगट नहीं होती। या जैसे खान से निकाला हुआ सोना मैल, पत्थर, मिट्टी आदि से छिपा होता है उसकी कुछ चमक दीखती है और शेष नजर नहीं आती; अथवा जिस प्रकार जाल में फंसा हुआ सिंह अपनी शक्ति को नहीं दिखा सकता। इसी प्रकार यह संसारी जीव किसी ऐसे जाल में फंसा हुआ है जो कि इसके ज्ञान, सुख आदि गुणों को दबाये हुए है, उसकी स्वतन्त्रता (आजादी) को प्रगट नहीं होने देता— पराधीन (गुलाम) बनाये हुए है।

अब विचारना यह है कि जीव के स्वाभाविक गुणों पर पर्दा डाल कर जीवको पराधीन (गुलाम) बनाने वाला कौन सा पदार्थ है।

संसारी जीव जिस जिस शरीर में कैद है क्या गुलामी का मूल कारण वह शरीर है ? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि 'नहीं' क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक तो वह शरीर जीवके शासन (हुकूमत) में न रहता किन्तु शरीर को अधिकतर हमारी उचित अनुचित आज्ञा माननी पड़ती है हम अपने शरीर से जैसा जो कुछ अच्छा बुरा कार्य कराना चाहें कराया करते हैं, शरीर उसमें जरा भी हीला हुज्जत नहीं करता। इस कारण हम शरीर के दास नहीं बल्कि शरीर हमारा दास है। दूसरे—यह शरीर भी तो किसी दूसरे निमित्तसे प्राप्त होता है। तीसरे-मरते समय शरीर तो यहां पड़ा रह जाता है उसमें रहने वाले जीव को दूसरी योनि में ले जाने वाला तो कोई दूसरा ही पदार्थ हो सकता है जो कि मरण के पीछे भी संसारी जीवका पीछा नहीं छोड़ता, सदा उसके ऊपर सवार रहता है।

इस कारण यह मानना पड़ेगा कि इस स्थूल शरीर के सिवाय कोई अन्य ऐसी चीज है जो संसारी जीव के साथ सदा रहती है और जिसके रहने से जीव के गुण पूर्ण विकसित नहीं होने पाते, जीव बात २ में पराधीन बना रहता है।

जीव को परतन्त्र बनाने वाली वह चीज अमूर्तिक तो इस लिये नहीं हो सकती कि अमूर्तिक पदार्थ इस मर्तिक शरीर

में जीव को कैद कर देने का कारण नहीं हो सकता, न मूर्तिक चीजों के (जल, अग्नि, दूध, विष आदि) द्वारा वह जीव को सुख, दुख आदि दिलाने का कारण हो सकता है क्योंकि मूर्तिक से काम मूर्तिक पदार्थ ही करा सकता है। इस कारण एक तो संसारी जीव को पराधीनता की जंजीर में जकड़ने वाला वह पदार्थ मूर्तिक है जिसको पुद्गल या मैटर भी कहते हैं। जो कि जीव के साथ सदा रहता है, संसार में कदापि उसका साथ नहीं छोड़ता।

अब आप इस पुद्गलीय (मैटीरियल) पदार्थ को जो कि सदा जीवके साथ रह कर उसकी परतंत्रता का कारण बना हुआ है— चाहे जिन शब्द से कह लीजिये, सूक्ष्म-शरीर कहें तो कुछ हानि नहीं, दैव कहें, कर्म कहें, भाग्य कहें, तकदीर कहें, अदृष्ट कहें, किस्मत कह लें तो कोई अन्तर नहीं। चीज एक है, नाम चाहे जो रख लें।

कर्म

जिस कर्म की सत्ता (मौजूदगी) पर कुछ प्रकाश डाला गया है। वह कर्म किस ढङ्गसे जीवके शिर सवार होकर उसको विचित्र नाच नचाता है अब इस पर प्रकाश डाला जाता है—

पुद्गल (मैटर) के परमाणु (Atoms) यद्यपि साधारण तौर से एक सरीखे होते हैं उनमें अनेक तरह के पदार्थों के रूप में हो जाने की शक्ति है उन परमाणुओं से पानी भी बन सकता है और आग भी बन सकती है किन्तु जिस समय वे

बहुत से परमाणु मिल कर स्कन्ध के रूप में हो जाते हैं तब उनमें खास २ पदार्थ बनने की शक्ति हो जाती है। कोई स्कंध लोहा रूप बनता है, कोई पत्थर रूप, कोई हवा, कोई पानी रूप इत्यादि भिन्न २ तरह के स्कन्धों में भिन्न २ तरह के पदार्थ रूप हो जाने की शक्ति हो जाती है। उन ही पुद्गल स्कन्धों में एक तरह के वे स्कन्ध भी होते हैं जिनमें संसारी जीव के सूक्ष्मशरीर बनने की शक्ति (खासियत) होती है उन स्कन्धों को 'कार्माण स्कन्ध' कहते हैं। कार्माण स्कन्ध सब जगह भरे हुए हैं।

जीव में चुम्बक की तरह से आकर्षण शक्ति (अपनी ओर कशिश करने-खींचने की ताकत) मौजूद है तथा उन कार्माण स्कन्धों में लोहे की तरह जीव की ओर 'खिच जाने की शक्ति' मौजूद है।

तदनुसार संसारी जीव में मन के विचारों से, बोलने से अथवा शरीर की किसी हरकत से वह आकर्षण शक्ति हर एक समय जागृत (हरकत रूप) रहा करती है क्योंकि सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते आदि किसी भी हालत में 'सोचने, बोलने या शरीर द्वारा कोई काम होने रूप यानी-मन, वचन, शरीरकी कोई न कोई हरकत अवश्य होगी अतः उस आकर्षण शक्ति (जैन-दर्शन में जिसे 'योगशक्ति' कहते हैं) के द्वारा वे कार्माण स्कन्ध (कार्माण मैटर) आकर्षित (कशिश) होकर जीव के साथ सदा दूध पानी की तरह एकमेक होकर लिपटते रहते हैं। जैसे पानी में रक्खा हुआ लोहे का गर्म गोला अपनी ओर पानी को

खीचता रहता है। तथा–वह गोला जब तक गर्म बना रहेगा तब तक वह अपनी तरफ पानी को अवश्य खींचता रहेगा। इसी तरह संसारी जीवमें जबतक क्रोध, अभिमान, छल, लोभ, विषय-वासना, प्रेम, वैर आदिके निमित्तसे मन, वचन, शरीरकी हरकत (क्रिया) होती रहेगी तब तक जीव कार्माण स्कन्धों को अपनी ओर बराबर खींचता रहेगा और वे खिंचे हुए कार्माण स्कन्ध उस जीव के साथ एकमेक होते रहेंगे।

जीव के साथ दूध पानी की तरह एकमेक रूप से मिला हुआ वह कार्माण स्कन्ध ही जीव के ज्ञान, सुख, शान्ति आदि गुणों को मैला करता रहता है, जीव की स्वतंत्रता छीन कर उसको पराधीन बना देता है और जीव को अनेक तरह के नाच नचाता रहता है। उसी कार्माण स्कन्ध को 'कर्म' कहते हैं। भाग्य, तकदीर, दैव आदि सब उसी के दूसरे नाम हैं।

जैसे ग्रामोफोन के रिकार्ड में गाने वाले की ध्वनि (आवाज) ज्यों की त्यों समा जाती है ठीक उसी तरह जीव के साथ मिलने वाले उन कार्माण स्कन्धों में भी जीव की मन, वचन, शरीर से होने वाली अच्छी, बुरी क्रिया (हरकत) की छाया ज्यों की त्यों अंकित हो जाती है। जीव यदि अपने मन से, बोलने से या शरीर से कोई अच्छी क्रिया कर रहा है तो उस समय के आकर्षित (कशिश) हुए कार्माण स्कन्धों में अच्छा यानी भला करने का असर पड़ेगा और यदि उस समय उसके विचार, वचन या शरीर की क्रिया किसी लोभ, अभिमान आदि

के कारण बुरी है तो उन आकर्षित (कशिश) होने वाले कार्माण स्कन्धों में बुरा यानी बिगाड़ करने का असर पड़ेगा। जिस तरह रिकार्ड ग्रामोफोन के ऊपर सुई की नोंक से उसी तरह की गाने की आवाज निकालता है जैसी कि उसमें अंकित (जज्ब) हुई थी ठीक, इसी तरह कर्म का नशा समय पर जीव के सामने उसी रूप में प्रगट होता है जिस रूप में जीव ने उसे अपने साथ मिलाया है। यानी— जिस कर्म में अच्छा असर पड़ा है वह जीव को अच्छी तरफ प्रेरित करके अच्छा सुखकर फल देगा और जो बुरे असर वाला कर्म जीव ने अपने साथ मिलाया है वह दुखदायक साधनों की ओर जीव को प्रेरित कर के दुखी बनावेगा।

कर्मों के भेद

वैसे तो जीवोंकी अगणित (बेतादाद) तरह की क्रियाएँ होती हैं तदनुसार कर्म भी अगणित तरह के बना करते हैं किन्तु उनके मोटे रूप से आठ भेद होते हैं। १- ज्ञानावरण २- दर्शनावरण, ३- वेदनीय, ४- मोहनीय, ५- आयु, ६- नाम, ७- गोत्र, ८- अन्तराय।

१–ज्ञानावरण कर्म वह है जो कि आत्मा के ज्ञान गुण को छिपाता है, उसको कम कर देता है। आत्मा में शक्ति है कि वह सारे संसार की भूत (गुजरा हुआ जमाना) भविष्यत् (आइन्दा जमाना) और वर्तमान (मौजूदा वक्त) समय की सब बातों को ठीक जान लेवे, किन्तु ज्ञानावरण कर्म के कारण

आत्मा की वह ज्ञान शक्ति प्रगट नहीं होने पाती।

जिस समय कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य के पढ़ने लिखने में रुकावट डालता है, पुस्तकों का और पढ़ाने सिखाने वाले गुरू का अपमान करता है, अपनी विद्या का अभिमान करता है तथा इसी प्रकार के और भी ऐसे अनुचित कार्य करता है जिससे दूसरे के या अपने ज्ञान बढ़ने में रुकावट पैदा हो तो उस समय उसके जो कार्माण पुद्गल आ कर कर्म बनता है उसमें उसकी ज्ञानशक्ति को दबाने की तासीर पड़ती है। यदि कोई पुरुष अपनी अच्छी नीयत से यह उद्योग करे कि सब कोई पढ़ लिख कर विद्वान बने, कोई मूर्ख न रहे तो उस समय की उसकी उस कोशिश से उसका ज्ञानावरण कर्म ढीला हो जाता है, उसकी ज्ञानशक्ति अधिक प्रगट होती है।

आज हम जो अपनी आंखों से किसी को मूर्ख, किसीको विद्वान, किसी को बुद्धिमान और किसी को बुद्धिशून्य देखते हैं, उसका कारण ऊपर कहे हुए दो तरह के कार्य ही हैं।

२—दर्शनावरण कर्म वह है जो कि आत्माके **दर्शन** गुण को पूरा प्रगट न होने दे। दर्शन गुण आत्मा का ज्ञान से मिलता जुलता बहुत सूक्ष्म गुण होता है जो कि ज्ञान के पहले हुआ करता है।

जब कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य के दर्शन गुण में रुकावट डालता है, दूसरे की आंखें खराब करता है, अन्धे मनुष्यों का खौल उड़ाता है इत्यादि, उस समय उसके **दर्शनावरण**

कर्म बहुत जोरदार तय्यार होता है और जिस समय इनसे उलटे अच्छे काम करता है तब उसका दर्शनावरण कर्म कम-जोर हो जाता है, साथ हीं दर्शनगुण प्रगट होता जाता है।

३—वेदनीय कर्म वह है कि जिसके कारण जीवों को इन्द्रियों का सुख या दुख प्राप्त (हासिल) करने का अवसर (मौका) मिलता है यानी-जीवों को इस कर्म की वजह से सुख दुख मिलाने वाली चीजें मिलती हैं।

यह कर्म दो प्रकार का है **साता** और **असाता**। साता वेदनीय के कारण संसारी जीव इंद्रियों का सुख पाते हैं। और असाता वेदनीय कर्म का फल दुख मिलना होता है।

यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को बुरे विचार से (इरादे से) मारे, पीटे, दुख देवे, रुलावे, रंज पैदा करावे अथवा खुद आप ही अपने आपको किसी बुरे भाव से दुख दे, रोवे, शोक करे, फांसी लगा ले अन्य तरह से आत्महत्या (खुदकशी) करले इत्यादि, तो उसके इस प्रकार के कामों से असाता वेदनीय कर्म बनता है जो कि अपने समय पर दुख पैदा करता रहता है।

यदि कोई पुरुष दूसरों का उपकार करे, अन्य जीवों के दुख हटाने का उद्योग करे, शान्ति से अपने दुखों को सहे, दया करे आदि। यानी— अपने आपको तथा दूसरे जीवोंको सेवा भाव से, दयाभाव से सुख पहुंचाने का काम करे तो उसके साता वेदनीय कर्म बनेगा जोकि अपना फल उसको सुखकारी

देगा ।

४- मोहनीय कर्म— वह है, जो कि आत्मा में राग द्वेष, क्रोध, अभिमान, छल कपट, लोभ आदि बुरे २ भाव उत्पन्न करता है। शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मकान आदि से मोह (प्रेम) इसी कर्म के निमित्त से होता है। दूसरे को अपना शत्रु (दुश्मन) मान लेना भी इसी कर्म के निमित्त से होता है।

अर्थात्— यह कर्म आत्मा पर ऐसी मोहनी (वशीकरण या जादू) डालता है, जिससे आत्मा को अपने भले बुरे का विचार जाता रहता है। जिन शान्ति, क्षमा, सत्य, विनय, संतोष आदि बातों से आत्मा की भलाई होती है उन बातों से इस कर्म के कारण आत्मा दूर भागता है और जिन बातों से वैर, अशान्ति, लालच, क्रोध, घमण्ड, संसारी चीजों से मोह पैदा होता है उन बातों की ओर इस आत्मा का खिचाव हो जाता है।

जो जीव या मनुष्य दुष्ट स्वभाव वाले, क्रोधी (गुस्साबाज़) अभिमानी (घमंडी) उपद्रव करने वाले, झगड़ालू, धोखेबाज़, लालची, हिंसक, निर्दय (बेरहम) अधर्मी अन्यायी देखने में आते हैं उनका मोहनीय कर्म बहुत तीव्र है। तथा जो मनुष्य सदाचारी, क्षमाशील, निरभिमानी, सरल, परोपकारी विरागी देखे जाते हैं; समझना चाहिये कि उनका मोहनीय कर्म बहुत हलका है।

क्रोध, मान, छल, लोभ, मोह वैर आदि दुर्भावों के

निमित्त से ही प्राय: दूसरे २ बुरे भाव पैदा हुआ करते हैं और ऐसे ही बुरे विचारों से तथा खराब कार्यों से बुरे कर्म बंधते हैं। इस लिये असलियत में मोहनीय कर्म ही अन्य सब कर्मों के बंधने का कारण समझना चाहिये। इसी कारण यह कर्म अन्य सब कर्मों से अधिक बुरा है।

हिंसा, धोखेबाजी, घमंड, अन्याय, अत्याचार, लोभ, काम, क्रोध आदि करने से सच्चे पूज्य परमात्मा, गुरू, शास्त्र की निन्दा करने से, दूसरों को ठगने आदि बुरे कार्य करने से मोहनीय कर्म तैयार होता है और इनसे उलटे अच्छे कार्य किये जावें तो मोहनीय कर्म हलका होता जाता है।

५- आयु कर्म— वह है, जोकि जीव को मनुष्य, पशु, देव, नरक इनमें से किसी एक के शरीर में अपनी आयु (उम्र) तक रोके रखता है। उस शरीर में से निकल कर किसी दूसरे शरीर में नहीं जाने देता। जिस प्रकार जेलर किसी सख्तकैद वाले कैदी को कुछ समय के लिये काल कोठरी में बंद कर देता है। उससे निकल कर दूसरी जगह नहीं जाने देता। उसी प्रकार यह कर्म भी पहले कमाये हुए कर्म के अनुसार पाये हुए मनुष्य आदि के शरीर में उस उम्र तक रोके रखता है जो कि उसने पहले जन्म में वान्धी थी।

जो जीव दयालु, परोपकारी, धर्मात्मा, सदाचारी होते हैं, हिंसा आदि पापों से दूर रहते हैं सन्तोषी होते हैं वे देव आयु कर्म बांधते हैं।

जिन जीवों के कार्य न बहुत अधिक अच्छे होते हैं और न बहुत अधिक ख़राब ही होते हैं, बिना कारण किसी को कष्ट नहीं देते, अधिक लालची, अधिक क्रोधी नहीं होते, उनके मनुष्य आयु कर्म बंधता है।

जो जीव दूसरों को ठगने में, धोखा देने में, छल-कपट करने में, झूठ बोलने में, मीठी बातें बनाकर दूसरों को फंसा लेने में, विश्वासघात करने में प्रायः (अक्सर) लगे रहते हैं वे **पशु** आयु कर्म को आगे के वास्ते अपने लिये तैयार करते हैं।

और जो जीव अधिक दुष्ट होते हैं, हिंसा करना, बिना कारण दूसरों का नाश करना, सदा दूसरों के बिगाड़ में लगे रहना, बल पूर्वक (ज़बर्दस्ती) दूसरों का धर्म बिगाड़ना आदि बुरे निंद्य काम करना ही जिनका काम होता है वे जीव **नरक आयु** बान्धते हैं।

६—नाम कर्म वह है कि जिसके कारण संसारी जीवों के अच्छे बुरे शरीर बन जाते हैं। जैसे चित्र बनाने वाला अनेक तरह के चित्र (तसवीरें) बनाया करता है, उसी प्रकार नामकर्म के कारण, सुडौल, बेडौल, लम्बा, ठिगना, कुबड़ा, काला, गोरा, कमज़ोर हड्डियों वाला, मजबूत हड्डियों वाला आदि अनेक तरह के शरीर तयार होते हैं।

यह कर्म दो प्रकारका है—**शुभ** और **अशुभ**। जिसके कारण अच्छा सुडौल, सुहावना सुन्दर शरीर बनता है वह

शुभनामकर्म है। और जिससे बेडौल, कुबड़ा, बदसूरत आदि खराब शरीर बनता है वह **अशुभनामकर्म** है।

जो जीव कुबड़े, बौने, लूले, लंगड़े आदि असुन्दर (बद-सूरत) जीवों को देखकर उनका मखौल उड़ाते हैं, अपनी खूबसूरती का घमण्ड करते हैं, अच्छे सदाचारी मनुष्य को दोष लगाते हैं, दूसरों की सुन्दरता बिगाड़ने का उद्योग करते हैं, उनके **शुभनामकर्म** बनता है। और जो इनसे उलटे अच्छे कार्य करते हैं वे अपने लिये **शुभनामकर्म** तैयार करते हैं।

७–गोत्रकर्म वह है जो जीवों को ऊंचे नीचे कुल (जातियों) में उत्पन्न करे। जिस प्रकार कुम्हार कोई तो घड़ा आदि ऐसा बर्तन बनाता है जिसको लोग ऊंचा रखते हैं, उसमें घी, पानी रख कर पीते हैं तथा कोई कुनाली आदि ऐसा बर्तन भी बनाता है जो कि टट्टी पाखाने के लिये ही काम आता है जिसको कोई छूता भी नहीं।

इसी प्रकार **गोत्रकर्म** के कारण कोई जीव तो क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि अच्छे कुलीन घर में पैदा होता है और कोई चमार, मेहतर, चांडाल आदि नीच कुल में उत्पन्न होता है, जिनका नीच काम करके आजीविका करना ही खास काम होता है।

देव तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण, आदि मनुष्य **ऊंचगोत्र** कर्म

के निमित्त से होते हैं और चमार, चांडाल आदि मनुष्य, पशु तथा नरक वाले जीव **नीचगोत्र** कर्म के कारण होते हैं। इस प्रकार नीच, ऊंच के भेद से यह कर्म दो प्रकार का है।

जो मनुष्य अपने बड़प्पन का घमण्ड करता रहे, दूसरों को छोटा समझता रहे, अपनी बड़ाई और दूसरों की निन्दा करना जिसका ख़ास काम हो, अपनी जाति, कुल आदि का अभिमान करे, कमीने ख़याल रक्खे, अच्छे पुरुषों का तथा पूज्य देव, गुरु का विनय न करे (वेइज्ज़ती करे) वह जीव नीच गोत्र बांधता है और जो इन कार्यों के विरुद्ध अच्छे कार्य करता रहता है उसके **ऊंचगोत्र** तैयार होता है।

८-**अन्तराय** कर्म वह है जोकि अच्छे कार्यों में विघ्न (रुकावट) डाल दिया करता है या जिसके निमित्त से अच्छे (फायदेमन्द) कार्यों में विघ्न आजावे। जैसे दो व्यापारियों ने एक साथ एक ही व्यापार शुरू किया। उनमें से एक ने तो उस व्यापार में अच्छा धन पैदा किया, किन्तु दूसरे व्यापारी के माल बेचते समय बाज़ार मन्दा हो गया और ख़रीदते समय मंहगा हो गया। घर में पुत्र के बीमार हो जाने से वह ठीक समय पर जबकि उसे लाभ (मुनाफ़ा) होता खरीद बिक्री नहीं कर पाया। फल यह हुआ कि उसने कुछ भी न कमाया। यह तो बात दूर रही किन्तु अपनी पूंजी से भी हाथ धो बैठा।

यहां पहले व्यापारी को अन्तराय कर्म ने नहीं दबाया था, जिससे कि उसको अपने व्यापारमें कोई विघ्न नहीं आया। इस कारण वह धन पैदा करने में सफल हो गया और दूसरे व्यापारी को पहला बांधा हुआ अन्तराय कर्म अपना फल दे रहा था, इस कारण उसको निमित्त ऐसे मिले जिससे कि वह अपने व्यापार में असफल (नाकामयाब) रहा ।

दूसरे जीवों के खाने पीने में विघ्न करने से, दूसरों की काम आने योग्य चीजों को बिगाड़ देने से, साधारण जनता (पब्लिक) के विरुद्ध कोई लाभ उठाने से, दान करने वाले को दान करने से रोक देने के कारण, किसी के बलवान (ताकतवर) बनने में कोई रुकावट खड़ी कर देने से, इत्यादि बुरे कार्यों से अन्तराय कर्म बनता है और इससे उलटे अच्छे कार्य करने से अन्तराय कर्म का बोझा हलका होता है।

इन आठ कर्मों में साता वेदनीय, मनुष्य आयु, देव आयु शुभ नामकर्म, ऊंच गोत्रकर्म ये कर्म पुण्य कर्म (अच्छे कर्म) माने गये हैं, क्योंकि इनके कारण जीवों को कुछ सांसारिक सुख मिलता है। इनके सिवाय शेष सभी पापकर्म यानी दुखदायक बुरे कर्म हैं।

जिस समय जीव अच्छे कार्य करता है, सत्य, दया, क्षमा, सरल व्यवहार करता है, परोपकार, विनय, सदाचार से कार्य करता है तब उसके पुण्य कर्मों में अनुभाग (रस) बढ़ता

है जिससे वह आगामी समय में सुख पाता है। और जिस समय जीव हिंसा, झूठ, धोखेबाज़ी, व्यभिचार, क्रोध, अभिमान लोभ, अन्याय, अत्याचार करता है तब उसके पाप-कर्मों में रस बढ़ता है यानी वे ज्यादा मजबूत होते जाते हैं जिसका नतीजा आगे चल कर बुरा भोगना पड़ता है।

स्थिति और अनुभाग

पीछे यह बतलाया जा चुका है कि मानसिक विचार, वचन की धारा और शरीर की क्रिया जिस उद्देश (इरादे या मंशा) के अनुसार होती है आकर्षित (खींचे हुए) कार्माण स्कन्धों में उसी तरह का सुधार, बिगाड़, भला, बुरा करने का असर पड़ता है। यहां पर एक यह बात ध्यान में और रखनी चाहिये कि जीव जो भी काम करता है वह या तो तीव्रता (गहरी दिलचस्पी) से करता है, या मंद रूपसे यानी वेमना (दिलचस्पी न लेकर) करता है इस बात का प्रभाव भी उस खींचे हुए और दूध पानी की तरह अपने आत्मा के साथ मिलाये हुए कर्म पर पड़ता है। तदनुसार उस कर्म में थोड़े या बहुत समय तक, कम या अधिक सुख दुख आदि फल देने की शक्ति पड़ जाती है।

जैसे एक मनुष्य अपना बदला लेने के लिये बड़े क्रोधके साथ किसी को मार रहा है उस मनुष्य द्वारा कमाये हुए 'असाता वेदनीय' कर्ममें लंबे समय तक, बहुत ज्यादा दुख देने का असर पड़ेगा और जो मनुष्य अपनी नौकरी की खातिर अपने मालिक की आज्ञा से लाचार होकर किसी को मार रहा है वह भी

असाता वेदनीय कर्म बांधेगा किन्तु उसमें थोड़े समय तक हलका दुख देने की शक्ति पड़ेगी। एक नौकर-पुजारी भगवान की भक्ति पूजा ऊपरी मन से करता है उसको पुण्य कर्म थोड़े समय तक हलका फल देने वाला बंधेगा जो स्वयं अपनी अन्तरंग प्रेरणा से बड़ा मन लगा कर भक्ति पूजन करता है उसका कमाया हुआ पुण्य कर्म अधिक समय तक अधिक सुखदायक फल देगा।

समय की इसी सीमा (मियाद) को 'स्थिति' और फल देने की कम अधिक शक्ति को 'अनुभाग' कहते हैं।

कर्म फल कब देते हैं

कर्म बन जाने के पीछे तत्काल ही अपना फल नहीं देने लगता किन्तु कुछ समय बीत जाने पर उदय में आता है। जैसे हम भोजन करते हैं भोजन में खाये गये दूध, चावल, रोटी, फल आदि पदार्थ पेट में पहुंचते ही रस नहीं बन जाते हैं कुछ समय तक पेट की मशीन पर वह खाया हुआ भोजन पकता है तब उस भोजन का रस, खून आदि बनता है। उसी तरह कार्माण स्कन्ध जब आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर के रूप में मिल जाते हैं तब कुछ समय बीत जाने पर अपने स्वभाव (तासीर-प्रकृति) के अनुसार अच्छा बुरा फल देना शुरू करते हैं। जिस कर्मकी जितनी लम्बी स्थिति (मियाद) होती है वह कर्म उसी के अनुसार कुछ समय पीछे उदय होता है जिसकी स्थिति

थोड़ी होती है वह जल्दी फल देने लगता है।+

जैसे हम दूध, चांवल, गन्ना, सन्तरा आदि हलके पदार्थ खावें तो वे जल्दी पच कर रस बन जाते हैं, और यदि केला, बाटी, बादाम आदि भारी, गरिष्ठ चीजें खावें तो वे देर में पचते हैं और उनका रस देर से बनता है। इसी के अनुसार लम्बी मियाद वाले कर्म देर से उदय में आते हैं, थोड़ी मियाद वाले कर्म जल्दी फल देने लगते हैं।

संसार में बहुतसे पापी जीव घोर पाप करते हुएभी सुखी दीख पड़ते हैं, रात दिन व्यभिचार करने वाली भी वेश्याएं दुखी नहीं देखी जातीं इसका कारण यही है कि उनके कमाये हुए पाप कर्मों में बुरा, दुखदायी फल देने की शक्ति बहुत ज्यादा, लम्बे समय तक की पड़ी है इस लिये उनको उन पाप कर्मों का फल भी जरा देर से मिलेगा संभव है वह इस जन्म के पीछे दूसरे जन्म में मिले।

जो जीव हलका पुण्य या पाप करते हैं उनके कमाये कर्मों में थोड़ी मियाद पड़ती है तदनुसार वे उदय भी जल्दी हो जाते हैं यानी— जल्दी फल मिल जाता है।

फल देने के पीछे

फल देने के पीछे, कार्माण स्कन्ध निःसार हो जाते हैं

+ एक कोड़ाकोड़ी सागर (असंख्य वर्षों) का स्थिति वाला कर्म एक सौ वर्ष पीछे फल देने योग्य होता है।

उनमें आत्मा के साथ लगे रहने की शक्ति नहीं रहती तब वे कार्माण स्कन्ध अपने आप आत्मा से अलग हो जाते हैं। जैसे सर्प के शरीर का पुराना चमड़ा (कैंचुली) उसके शरीर से उतर जाती है उसी तरह कर्म भी अपना कार्य करके आत्मा से अलग हो जाते हैं।

इस तरह पहले के कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और नये २ कर्म आत्मा से बंधते रहते हैं। जिस तरह कि समुद्र में हजारों नदियों का पानी प्रति समय आता रहता है और उधर सूर्य की गर्मी से उसका बहुत सा पानी भाप बन कर उड़ता भी रहता है। जिस प्रकार कोई ऋणी (कर्जदार) मनुष्य पहले का कर्जा (चुकाता) है किन्तु लाचार होकर अपने खाने पीने के लिये नया कर्ज भी ले लेता है इस कारण वह कर्ज से नहीं छूट पाता। इसी प्रकार संसारी जीव पहले कमाये कर्मों का फल भोग कर ज्यों ही उनसे छूटता है त्यों ही अपने भले बुरे कामों से और नया कर्म कमा लेता है। इसी कर्मों की उधेड़ बुन के कारण जीव संसार में हमेशा से (अनादि समय से) अनेक योनियों में जन्मता मरता चला आ रहा है।

कर्मों में उलटन पलटन

कमाये हुए कर्मों में उलटन पलटन भी हुआ करती है। जिस तरह खाये हुए पदार्थ का असर हम बदल सकते हैं किसी आदमी ने भूल से या जान बूझ कर विष खा लिया और उसके

पीछे विषनाशक दवा खा ली तो वह विष उस आदमी पर अपना असर नहीं कर पावेगा या बहुत थोड़ा असर करेगा। इसी तरह किसी मनुष्य ने क्रोध में आकर किसी को मारा जिससे उसने असाता वेदनीय (दुखदायक) कर्म बांधा किन्तु उसके बाद उसे अपने किये पाप पर पश्चात्ताप हुआ उसने फिर परोपकार, दया, क्षमा, शान्ति आदि से ऐसा जबर्दस्त साता वेदनीय (सुख-दायक) कर्म बान्धा कि जिसने पहले के दुखदायक कर्म को भी सुखदायक या कम दुखदायक बना दिया।

इसी तरह बांधे हुए कर्मों के विपरीत (खिलाफ) काम करने से कर्मों की तासीर (प्रकृति) पलट जाती है, तथा उनकी मियाद (स्थिति) तथा शक्ति घट जाती है, और बांधे हुए कर्मों के अनुकूल (मुआफिक) कार्य करते रहने से बांधे हुए कर्मों में शक्ति अधिक हो जाती है, उनकी स्थिति (मियाद) भी अधिक लम्बी हो जाती है।

कोई कोई ऐसे वज्र कर्म भी बान्ध लिये जाते हैं जिनके बांधते समय घोर पापरूप या पुण्य रूप मानसिकविचार, वचन या शारीरिक क्रिया होती है कि उन कर्मों में ऐसी अचल शक्ति पड़ जाती है जिसको जराभी हिलाया चलाया उलटा पलटा नहीं जा सकता। अतः वे अपना नियत (मुकर्रिर) फल देकर ही जीव का पीछा छोड़ते हैं। ऐसे कर्म 'निकांचित' कहलाते हैं। कर्म की तासीर (प्रकृति) बदल जाने को 'संक्रमण' तथा स्थिति

+ संक्रमण कर्म की मूल प्रकृतियों में, दर्शन–चरित्र मोह-नीयमें तथा आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियों में नहीं होता है।

अनुभाग (मियाद, शक्ति) घट जाने को 'अपकर्षण' और बढ़ जाने को 'उत्कर्षण' कहते हैं।

फिर कर्मों से छुटकारा कैसे हो

"जब कि पुराने कर्म अपना फल देकर दूर होते जावें और नवीन कर्म आत्मा के साथ लगते जावें तब इस कर्मबन्धन से छुटकारा कभी नहीं हो सकता। इस कारण जीव जैसे अनादि काल से संसार में घूमता चला आ रहा है वैसे ही अनन्त काल तक घूमता रहेगा। फिर जीव को मुक्ति किस तरह प्राप्त होगी ?" यह एक प्रश्न सामने आखड़ा होता है इसका उत्तर यह है कि—

जिस तरह ऋण के बोझ से दबा हुआ एक मनुष्य अपना पिछला कर्जा अधिक भुगताना शुरू करे और आगे को कर्जा लेना बन्द कर दे अथवा थोड़ा लेने लगे तो वह कुछ दिन बाद कर्जे से बिलकुल छूट जायगा। इसी प्रकार संसारी जीव धन दौलत, पुत्र, मित्र, स्त्री, माता, भ्राता आदि के मोह में फंसा हुआ किसी को अपना समझ कर उससे प्रेम करता है, किसी को अपना वैरी समझ कर उससे वैर करता है, किसी से झगड़ता है, किसी को मारता है, किसी के साथ विश्वासघास करता है, किसी पर क्रोध करता है, किसी की खुशामद करता है इत्यादि, अनेक तरह के ऐसे काम करता है जो कि नये २ कर्मबंधन के कारण होते हैं किन्तु जब इस जीव को यह दृढ़ विश्वास हो जावे कि— "सांसारिक पदार्थ तथा पुत्र, मित्र आदि परिवार न मेरा है और न मैं इनका हूं। यह सब स्वार्थ साधन का

बखेड़ा है, यदि मैं इनका मतलब न साधूं तो ये सब मेरा साथ छोड़ देंगे, न कोई साथ आया था, न कोई साथ जावेगा, फिर मुझे इनके लिये मायाप्रपंच, पाप, कूट कपट करना ठीक नहीं यदि मैं इन झंझटों से अलग हो जाऊं तो बहुत सी चिन्ताओं तथा आकुलताओंसे और पापोंसे हलका हो जाऊंगा, इत्यादि।" तब उसको आत्माका सत्य ज्ञान होता है उस समय वह जीव निश्चय समझ लेता है कि आत्मा जिस शरीर में रहता है वह शरीर भी उसका निजी पदार्थ नहीं वह उससे भी जुदा है फिर संसारकी अन्य दूसरी चीजें तो उसकी अपनी कैसे हो सकती हैं। आत्मा के उस सत्यविश्वास को जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन (Right belief— सही यकीन) कहते हैं और उस भेदविज्ञान को सम्यग्ज्ञान (Right knowldge— सच्चाइल्म) कहते हैं।

जैसे किसी सेठको अपने मुनीम की बेईमानी का विश्वास हो जावे तो वह चतुर सेठ ऊपर से मुनीम के साथ प्रेम रखता हुआ भी भीतर से उससे नफरत करता है और इसी कारण आगे के लिये उसके हाथों मोटी रकमें सोंपना बन्द कर देता है चालू हिसाब भी धीरे २ उससे लेता जाता है। इसी प्रकार जिस जीव को आत्माके स्वरूप का तथा शरीर, पुत्र, मित्र आदि के पृथक्त्व (जुदेपन) का विश्वास तथा भेदज्ञान हो जाता है तब वह या तो गृहस्थाश्रम छोड़ कर साधु हो जाता है अथवा लाचारी से इतना त्याग नहीं कर सकता तो गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ भी घर धन्धे के काम ऊपरे-मन से करता है दिल-

चस्पी से नहीं करता, उनको दिलसे बुरा समझता हुआ लाचारी से करता है जिस तरह धाय दूसरे के बच्चे को ऊपरी प्रेम दिखलाती हुई पालती है अथवा वेश्या धन की खातिर पुरुषों के साथ बनावटी प्रेम दिखलाती है। ऐसी ही दशा उस भेदविज्ञानी की हो जाती है।

तब वह अन्याय, अत्याचार, पाप कार्य अपने आप छोड़ कर क्रोध, मान, फरेब, लोभ, विषयवासना आदि को यथाशक्ति कम करता जाता है। इस तरह के आचरण को जैनदर्शन में सम्यक्चारित्र (Right conduct—सहीअमल) कहते हैं। जिसका नतीजा यह होता जाता है कि वह कर्मों के भार से बहुत हलका होता जाता है। आगामी कर्म-बन्ध थोड़ा होता जाता है।

जिस समय घर बार छोड़ कर वह साधु बन जाता है उस समय सांसारिक झंझटों से बिलकुल अलग होकर शांति, क्षमा, धीरज, सन्तोष, ब्रह्मचर्य आदि का पूरा आचरण (अमल) करता है इसके सिवाय अपने मानसिक विचारों को सब ओर से हटाकर, आत्मध्यान (आत्मा की समाधि) में निश्चल हो जाता है। उस समय मोह, क्रोध आदि भाव न रहने के कारण आत्मा कार्माण स्कन्धों का आकर्षण करना बन्द कर देता है जिससे कर्म बनने बन्द हो जाते हैं और पहले के कमाये हुए कर्म अपना बिना कुछ फल दिये आत्मा से दूर होते जाते हैं। जिस तरह किसी मनुष्य ने विष खा लिया होवे उसके बाद वह

विषनाशक रेचन वटी या वमनकारक औषधि खा लेवे तो वह विष विना कुछ हानि पहुंचाये टट्टीके साथ या उल्टी (वमन-कय) के साथ निकल जाता है इसी प्रकार आत्मध्यान के बलसे संचित कर्म भी विना कुछ हानि पहुंचाये आत्मा से दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्मा सत्य विश्वास, सत्य ज्ञान और सत्य आचरण में पारङ्गत (भरपूर) होकर कर्मों से बिलकुल छूट जाता है जिसको कि 'मुक्ति' कहते हैं। मुक्त आत्मा संसार के सब आत्माओं से उच्च-उन्नत होता है। अतः उसको परम-आत्मा यानी—परमात्मा भी कहते हैं। वह फिर कभी बन्धन में नहीं फंसता। उस समय पूर्णज्ञानी, पूर्णसुखी हो जाता है।

सारांश

मतलब यह है कि यह जीव अपनी भूल से काम, क्रोध, मोह आदि के वश होकर कर्म-बन्धन में फंसता है जैसे कि मकड़ी अन्य मक्खी आदि जन्तुओं को फंसाने के लिये जाल बनाती है किन्तु स्वयं (खुद) उसमें फंस कर मर जाती है। यही दशा इस संसारी जीव की हुआ करती है। परन्तु जब यह जीव अपनी भूल का अनुभव करके मोह माया आदि बंधन के कारण त्याग देता है तब कर्म बन्धन से छूट कर मुक्त हो जाता है जिस तरह रस्सी को उलटा बटने पर रस्सी खुल जाती है।

इसी विषय पर स्व० श्रीमान कविवर बा० न्यामतसिंह की बनायी हुई एक कविता यहां पर देते हैं—

कर्म की रेख में भी मेख, बुधजन* मार सकते हैं।
कर्म क्या है उसे पुरुषार्थ+ से संहार † सकते हैं।
कर्म संचित ‡ बुरे गर हैं तो, भाई इसका क्या डर है,
बुरे ऐमाल-नामे को भी, वो सुधार सकते हैं॥
कर्म से तो बड़ा बलवान § है पुरुषार्थ दुनिया में,
उदय भी कर्म का गर हो, उसे भी टाल सकते हैं।
ज्ञान सम्यक्त से चारित्र से तप और संयम से,
पाप दरिया में डूबे को, हम उभार सकते हैं।
करम का डर जमा रक्खा है हौवा की तरह यूं ही,
इन्हें तो ध्यान के इक तीर से भी मार सकते हैं।
करें हिम्मत तो सारी मुश्किलें आसान हो जावें।
अगर दें हार हिम्मत तो बिला शक हार सकते हैं।
करें पुरुषार्थ तो हम इम्तिहां में पास हो जाएं,
कर्मों के पुराने सारे परचे फाड़ सकते हैं।
कर्म सागर × से होना पार 'न्यामत' गरचे मुश्किल है,
मगर जिनधर्म के चप्पू ⟂ से नैया तार सकते हैं।

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि जीव यदि ठीक उद्योग करे तो अनादि काल के लगे हुए कर्मों से भी छूट कर मुक्त हो सकता है।

---

*बुद्धिमान। +कोशिश। † हटा। ‡ कमाये हुए। § ताकतवर। × कर्मरूपी समुद्र। ⟂ पतवार से।

कर्मों का फल क्या परमात्मा देता है ?

कर्मबन्धन या भाग्यनिर्माण के विषय में जैनदर्शन के साथ किसी तरह थोड़े बहुत अंतर से आर्य समाज, सनातन धर्मानुयायी, ईसाई, मुसल्मान आदि सहमत हो सकते हैं परन्तु जीव को कर्मों का फल देने के विषय में जैन सिद्धान्त के साथ वे सहमत नहीं हो सकते। जिसका कि मुख्य कारण यह है कि वे एक ऐसे परमात्मा को मानते हैं जो त्रिकालज्ञाता, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, दयालु और न्यायकारी है वह परमात्मा ही समस्त संसारी जीवों को उनके कर्मों के अनुसार सुख दुख आदि फल दिया करता है। संसार में समस्त जीवों को सुख दुख आदि जो कुछ भी हुआ करता है सब उस परमात्मा की ओर से हुआ करता है। न्यायाधीश (मजिस्ट्रेट) के समान न्याय भी परमात्मा करता है और जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट के समान संसारी जीवों को दंड देने की व्यवस्था भी परमात्मा ही करता है। सारांश यह है कि संसार में प्रत्येक चर अचर, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जीव जन्तु को जो किसी भी तरह का कष्ट या आराम मिल रहा है वह सब परमात्मा की प्रेरणा पर उसके (इन्साफ) के अनुसार मिल रहा है।

किन्तु उनकी इस मान्यता में निम्नलिखित अनिवार्य दोष आते हैं—

१– संसार में कोई भी जीव पापी, अन्यायी, अत्याचारी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि हमारी निगाह में तो कसाई

निरपराध गायों को कत्ल कर रहा है, शिकारी हिरणों को मार रहा है, व्यभिचारी किसी सती स्त्री का जबर्दस्ती शीलभंग कर रहा है, कोई निर्दय किसी दीन, हीन, निर्बल मनुष्य को सता रहा है किन्तु वह सब उस परमात्मा के किये हुए न्याय के अनुसार दंडव्यवस्था (यानी–पहले जन्ममें किये हुए पापों की की सजा का इन्तिजाम) ही माननी पड़ेगी ईश्वर की प्रेरणा से ही कसाई कत्ल कर रहा है, शिकारी शिकार खेल रहा है, व्यभिचारी बलात्कार कर रहा है और दुष्ट मनुष्य गरीब को पीड़ा दे रहा है क्योंकि परमात्मा निराकार अशरीर है वह खुद अपराधी (कसूरवार) को सजा दे नहीं सकता इस लिये वह उन कसाई, शिकारी, व्यभिचारी, दुष्ट मनुष्यके द्वारा उन गायों, हिरणों, सती स्त्री आदि को सजा दिला रहा है। इस कारण जज की आज्ञा से किसी मनुष्य पर कोई सिपाही बेंत मार रहा है तो वह सिपाही उस मार पीट का जिम्मेवार नहीं है और न माना जाता है इसी तरह परमात्माके न्याय अनुसार उसकी प्रेरणा पर गौ आदिको पहले जन्मके अपराधोंकी सजा देने वाले कसाई, व्यभिचारी, शिकारी, चोर, डाकू आदि पापी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे तो जज रूप परमात्मा की ओर से पुलिस का काम कर रहे हैं। फिर भी परमात्मा की पुलिस का काम देने वाले, दूसरों को उनके कर्मों का फल भुगाने वाले वे चोर, डाकू आदि पुलिस द्वारा पकड़े जाते हैं और जेल में भेजे जाते हैं।

२– ईश्वर त्रिकालज्ञाता है इस लिये पहले से ही जान

लेता है कि अमुक जीव ऐसा ऐसा बुरा पाप कार्य करेगा जिससे कि मुझे उसको सजा देनी पड़ेगी तो अपनी दयालुता तथा सर्वशक्तिमत्ता के कारण वह पहले से ही उन जीवोंको क्यों नहीं पाप करने से रोक देता है। 'पहले पाप कर लेने देना पीछे से दुखदायक दंड देना' यह काम दयालु ईश्वर का बहुत विचित्र है !

३– जज सजा देते समय अपराधी को बतला देता है कि तुझे चोरी, जारी आदि की यह सजा दी जारही है किन्तु संसार में जीव जो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं उन्हें परमात्मा कभी भी नहीं बतलाता कि तुमको यह सजा अमुक पाप की दी जारही है।

४– जज अल्पज्ञ (थोड़ा जानकार) है इस लिये वह साक्षी (गवाही) आदि से पूरे सुबूत लेकर जब कसूर का निर्णय कर लेता है तब उस अपराधी को सजा देता है। किन्तु परमात्मा तो सर्वज्ञ है उसे तो किसी गवाही की जरूरत नहीं फिर जीवों को सजा देने में वह इतनी देर क्यों करता है कि पहले जन्म के पाप कर्मो की सजा इस जन्म में मिलती है तुरन्त उसी समय दंड क्यों नहीं दे देता ?

५– कृतकृत्य, निर्विकार परमात्मा को इन सांसारिक झगड़ों में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? किसी को रुलाना, किसी को सताना, किसी को डराना, धमकाना किसी को हंसाना आदि कार्य निर्विकार दयालु परमात्मा के कदापि नहीं

हो सकते।

सच तो यह है कि यदि सचमुच सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु, सर्वव्यापक परमात्मा जीवों को कर्मों का फल देने वाला हो तो संसार में जरा भी दुख, क्लेश, अन्याय, अत्याचार नहीं रह सकते। "यदि मैं एक दिन के लिये भी ऐसा सर्वशक्तिमान परमात्मा बन जाऊं तो सारे संसार को पूर्ण सुखी, सदाचारी बना दूं।"

इस लिये सिद्ध होता है कि संसारी जीवों को उनके कर्मों का फल परमात्मा की ओर से नहीं मिलता है।

कर्मों का फल अपने आप मिलता है

जिस प्रकार भोजन करते समय हमारे अधिकार में यह बात रहती है कि हम जो कुछ खाना चाहें खा सकते हैं उस समय दाल, रोटी, चांवल आदि सात्विक हलका भोजन भी कर सकते हैं और रबड़ी, हलवा, भंग, शराब आदि गरिष्ठ, नशीले आदि पदार्थ भी खा सकते हैं किन्तु जिस समय वे हमारे गले से नीचे उतर जाते हैं उस समय उनका रस बनाना या अपनी प्रकृति के अनुसार फायदा नुकसान नशा आदि पैदा करना हमारे अधिकार की बात नहीं रहती। शराब पी लेने पर हम यह चाहें कि हमारे दिमाग पर नशा न चढ़े यह बात असंभव है इसी प्रकार कर्म कमाते समय तो हमारे अख्त्यार में है कि हम अच्छे काम करके अच्छे कर्म कमायें, पूर्व संचित कर्म के निमित्त से मिली बुरी परिस्थिति (मौके) में भी अपने परिणामों

(विचारों) को न बिगड़ने दें, संभाल कर रक्खें, अथवा अच्छी दशा में भी बुरे काम कर डालें परन्तु कर्म बान्ध लेने के पीछे, फल मिलने की बात हमारे अधिकार से बाहर की बात हो जाती है। वहां तो जैसा कुछ कर्म बांधा है कर्म के वश से आत्मा स्वयं (खुद) वैसा अच्छा बुरा फल भोगने के लिये वैसे सुख, दुख दायक स्थान पर पहुंच जायगा। जिस योनि में शरीर पाने का भाग्य कमाया है 'गति' नामक कर्म की प्रेरणा से जीव अन्य किसी योनि में न जाकर नया शरीर पाने के लिये उसी योनिमें पहुंचेगा। जैसे नाव पानी में आप चलती है परन्तु मल्लाह जिस ओर उसे चलाना चाहता है, जाती उसी तरफ तथा उसी ठिकाने पर है इसी तरह जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिये शुभ अशुभ योनि में जाता खुद आप है किन्तु उसी स्थान पर पहुंचने की प्रेरणा वह 'गति' कर्म करता है। इसी बातको भिन्न भिन्न कवियों ने निम्नलिखित रूप से बतलाया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

यानी–अच्छा बुरा उद्योग करना तेरे अधिकार में है कर्मों का फल मिलना तेरे अधिकार में नहीं है।

कर्म जाहि दारुण दुख देंही, मति ताकी पहले-हर लेंही।

यानी–कर्म जिस जीव को भयानक कष्ट देते हैं उसकी बुद्धि को पहले ही बिगाड़ देते हैं।

को सुख को दुख देत है, कर्म देत झकझोर,
उलझै सुलझै आप ही, धुजा पवन के जोर।

यानी–जीवको सुख दुख अन्य कोई नहीं देता है अपने कमाये हुए कर्म ही जीवको सुख दुख देते हैं। जैसे हवामें ध्वंजा अपने आप ही बांससे उलझ जाती है और अपने आप ही सुलझ भी जाती है।

मतलब यह है कि कर्मों का फल दिलाने के लिये किसी अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं कर्म की प्रेरणा से जीव स्वयं (खुद) ऐसे कार्य करने के लिये प्रेरित होता है जिससे उसको अच्छा बुरा फल मिल जाता है। जिस समय शुभ कर्म उदय आता है उस समय जीव उस कर्म की प्रेरणा से ऐसे स्थान पर जा पहुंचता है जहां उसे कुछ सुख हासिल होता है और जब अशुभ कर्म का चक्कर चलता है तब दुखदायक स्थानों पर जा पहुंचता है जिससे कि दुखदायी निमित्तों से उसको दुख मिलता है।

जिस समय कर्म का उदय बलवान होता है उस समय जीव की विवेक शक्ति अपना कार्य नहीं करती इस लिये उस समय जीव कर्म के नशे में कर्म जैसा नचाता है वैसा नाचता है और कभी कर्म का उदय हलका होता है उस समय जीव की शक्तियों का विकास जोरदार होता है। अतः उस समय जीव अगर अपने विवेक से काम ले तो ऐसे काम भी कर सकता है जिससे कर्म की जंजीर कमजोर होकर टूटती चली जावे।

सारांश

इस सब का निचोड़ यह है कि जीव अपने लिये कर्मकी

वेड़ियां स्वयं तयार करता है। अपने कारनामों से अपने (भलाई, बुराई) के बीज वो कर सुख दुख की खेती तयार करता है और फिर उनके अच्छे बुरे फल उसको खाने पड़ते हैं। अपने ही उद्योग से जीव देव बन सकता है और अपने ही उद्योग से नरक के दुख कमा सकता है तथा अपने ही उद्योग से कर्म जंजीर को तोड़ कर हमेशा के लिये स्वतन्त्र (पूर्ण मुक्त) भी हो सकता है।

परमात्मा के शुद्ध ज्ञान, शान्ति, निर्विकार आदि गुणों को तथा उसके स्वरूपको अपना आदर्श बनाकर जीव जब भक्ति स्तुति, पूजा करके वैसा विकास अपनी आत्मा में करने की कोशिश करता है तदनुसार शान्ति, क्षमा, सच्चे ज्ञान की कला उसमें प्रगट होती जाती है। इस आदर्श के तौर पर परमात्मा जीव की सुख शान्ति मिलने में सहायता अवश्य करता है जैसे कि बलवान बनने के लिये किसी पहलवान का इतिहास पढ़ना, कहानी सुनना या चित्र (तसवीर) देखना आदि मदद पहुंचाता है। इसके सिवाय परमात्मा स्वयं किसी को नरक, स्वर्ग नहीं भेजा करता। व्यवहार में वैसे यों कह दिया करते हैं कि परमात्मा की कृपा से हमको सुख मिला किन्तु इसका मतलब यों समझना चाहिये कि हमने परमात्मा को आदर्श (*Ideal*) मान कर शान्त, क्षमा शील, अच्छे गुणों के प्रेमी बनने की कोशिश की जिससे शुभ कर्म (अच्छा भाग्य) पैदा किया और उस कर्म के कारण हम को सुख मिला। जैसे बिजली के

प्रकाश में विद्यार्थी खुद पढ़ता है किन्तु पढ़ने में सहायता ने के कारण वह यों कह देता है कि बिजली मुझे पढ़ाती है।

इस ढङ्ग से कर्म-सिद्धान्त को समझ कर हमको अपने रों पर खड़े होकर अपनी उन्नति के लिये खुद उद्योग करना चाहिये।

समाप्त।

अकलंक जैन ग्रन्थमाला के

उपयोगी ग्रन्थ

१— सत्यस्वरूप—यह ग्रन्थ स्व० पं० भागचन्द्र जी का बनाया हुआ है। सिद्धान्त का स्वाध्याय करने योग्य अपूर्व ग्रंथ है। मूल्य ४ आना। १०० प्रतिके ग्राहकों को तीन रुपये में।

२—जैनधर्म पर लोकमान्य तिलक का भाषण तथा अजैन विद्वानों का अभिमत—

इस ट्रेक्ट में जैनधर्म का ऐतिहासिक परिचय; [illegible] भावना, तिलक का व्याख्यान और जैनधर्म पर भारत तथा विलायती विद्वानों की सम्मतियां हैं। पृष्ठ ३[illegible] मूल्य -) थोक ५) सैकड़ा।

३— स्याद्वाद परिचय— इस पुस्तक में स्याद्वाद सिद्धान्त को जो कि जैन धर्म का मूल स्तम्भ है—बहुत सरल ढंग से युक्ति पूर्वक समझाया गया है। मूल्य -) थोक ५) सैकड़ा।

४—कर्मसिद्धान्त परिचय—प्रस्तुत पुस्तक। मू[illegible] थोक ४ सैकड़ा।

निम्न लिखित ट्रेक्ट प्रकाशित होंगे—

१— जैनसंघ का इतिहास २— जैन वीरों की वीरता ३— जै[illegible] का तत्त्वज्ञान ४— ईश्वर और जगत रचना।

व्यवस्थापक—अकलंक ग्रंथमाला

अकलंक प्रेस मुलतान सिटी।